

आशा अय्यर

22 वर्षों तक केन्द्रीय विद्यालय में हिन्दी की स्नातकोत्तर अध्यापिका के तौर पर शिक्षण कार्य किया और 4 वर्ष तक उप-प्रचार्या रहीं। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति के बाद लेखन एवं अनुवाद कार्य कर रही हैं।

क्या किसी भाषा को पढ़ाने की एक मात्र योग्यता उस भाषा को बोलने वाले प्रान्त और परिवार में जन्म लेना भर है? यह अनुभव एक गैर-हिन्दी भाषी प्रान्त में जन्मी लेकिन हिन्दी पढ़ाने वाली शिक्षिका का है। उन्हें अपनी हिन्दी शिक्षण योग्यता के लिए अनेक बार पीड़ादायी परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। वे अपने प्रयासों और प्रतिबद्धता से बेहतर शिक्षण का प्रयास करती हैं लेकिन शिक्षक साथी और प्रशासन उनकी योग्यता को संदेह की नजर से देखते हैं।

एक हिंदी शिक्षक होना

एक हिंदी शिक्षक होना क्या होता है, यह मैंने तभी जाना जब मैं केंद्रीय विद्यालय में 1978 में स्नातकोत्तर शिक्षिका बनकर आई। सन् 2000 तक मैंने ग्वालियर, नेपानगर, भुसावल; तीन जगहों पर हिन्दी शिक्षिका के रूप में कार्य किया। उसके बाद मुझे उप-प्राचार्य के रूप में पदोन्नत कर दिया गया।

अध्यापन के 20 सालों में मुझे तरह-तरह के खट्टे-मीठे अनुभव हुए। आज जब इन्हें कलमबद्ध करने बैठी हूँ तो ऐसी बेतरतीब भीड़ लग गई है कि किसे छोड़ूँ किसे पकड़ूँ, समझ नहीं पा रही हूँ! कुछ सोच-विचार के बाद मैंने इन अनुभवों को 3 खंडों में बांट लिया है : (i) सह-शिक्षकों के साथ मेरे अनुभव (ii) विद्यार्थियों के साथ मेरे अनुभव और (iii) प्रशासकों के साथ के मेरे अनुभव। हालांकि ये तीनों आपस में घुल-मिलकर आपके सामने आएंगे क्योंकि वास्तव में ये अलग-अलग नहीं हैं, इन्हें समग्रता में ही मैं बता पाऊंगी। यह वर्गीकरण मैंने केवल घटनाएं छांटने के लिए किया है।

दो बातें मैं पहले ही स्पष्ट कर दूँ। एक, मुझे एक हिंदी अध्यापिका के रूप में हमेशा भरपूर सम्मान और स्नेह मिला और दूसरा, मेरे विद्यार्थी हिंदी विषय को वही महत्ता देते आए जो वे गणित या अंग्रेजी को देते थे। ऐसा कर पाने में मैं सफल रही क्योंकि मुझे पूरे समय मेरी उन अध्यापिकाओं का मार्गदर्शन मिलता रहा जो विद्यालय से लेकर महाविद्यालय तक मुझे हाथ धाम कर ले आई थीं। उनमें से श्रीमती शकुंतला

दुग्गल आज भी लखनऊ में हैं। सुश्री म. गुप्ता, सुश्री जया मिश्रा, जिन्होंने कक्षा आठ से 12वीं तक ही नहीं, जब मैं स्नाकोत्तर परीक्षाओं के लिए पढ़ रही थी, तब भी मेरा मार्गदर्शन किया।

एक तमिल भाषी हिंदी शिक्षिका के रूप में मेरा स्थान कैसा होगा, यह मैंने कभी सोचा ही नहीं था। वस्तुतः लोग ही मुझे अहिंदी भाषी कहते या समझते थे, मैं तो हिंदी भाषी ही थी और रहूंगी! हां, पढ़ाते समय मैंने इस बात का ध्यान रखा कि अहिंदी भाषी विद्यार्थियों को हर स्तर पर किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, चाहे वे तमिल हों, पंजाबी हों या बंगाली। मुझे पता था कि ब्रज में लिखी, अति-सरल लगने वाली पंक्ति 'खेलत में को काको गुसैया' एक अहिंदी भाषी बच्चे को रुला के छोड़ेगी। मेरे प्रथम प्राचार्य ने हमेशा मेरा परिचय एक अहिंदी भाषी हिंदी शिक्षिका के रूप में ही कराया और मुझे लगता रहा कि मैं लोगों को ठग रही हूँ। यद्यपि मुझे घर में हिंदी पढ़ाने वाला कोई न था लेकिन मेरे माता-पिता ने मेरी सहायता की ताकि मुझे किताबों की कमी ना रहे। हमेशा मुझे अच्छी हिंदी बोलने वालों का संसर्ग मिला, श्रेष्ठतम पुस्तकें मिलीं, मार्गदर्शन मिला, तो फिर यह कहना कि मैं हिंदी भाषी नहीं, मुझे भला नहीं लगता।

पी.जी.टी. होने के कारण मुझे काफी सारी जिम्मेदारियां मिलती रहीं और मैं हिंदी के लिए दिल खोलकर काम करती रही। फिर चाहे हिंदी दिवस हो, चाहे प्रेमचंद शताब्दी वर्ष हो। केंद्रीय विद्यालयों में बिताए हुए दिन शिक्षण की दृष्टि से भव्य थे। वहां हिंदी भाषा और साहित्य दोनों में रुचि रखने वाले अभिभावक थे और वहां साहित्यिक कार्यक्रम हुआ करते थे। वहां मुझे स्तरीय हिंदी पढ़ाने का संतोष होता था। मगर सह-शिक्षकों के संदर्भ में मैं ऐसा नहीं कह सकती। दो-तीन ऐसे अनुभव हुए जिनकी कड़वाहट बहुत दिनों तक मेरे मन में रही।

वरिष्ठ होने के कारण विषय संबंधी विवादास्पद मुद्दों को सुलझाने का दायित्व मेरा ही होता था। मेरी दृष्टि में जो गंभीर थे ऐसे तीन मामले मैं यहां बताना चाहती हूँ। एक अध्यापिका ने एक छात्र की कॉपी में 'दाढ़ी' को लाल स्याही से काटकर 'दाडी' लिखा था। अभिभावक ने शिकायत की तो फैसेले के लिए मुझे बुलाया गया। मैंने पाया कि 'अबू खां की बकरी' कहानी थी और किसी संदर्भ में 'दाढ़ी' शब्द लिखने में आया था। मैंने बताया कि बच्चे ने सही लिखा था।

अगले दिन प्राचार्य ने मुझे बुलवाया और मेरे सामने हिंदी शब्द सागर रखते हुए कहा, "देखिए, इसमें 'दाडी' शब्द तो है। आपने कल पेरेंट्स के सामने मैडम को गलत ठहरा दिया।" मैं भौंचक्की रह गई कि उन अध्यापिका को सही ठहराने के चक्कर में प्राचार्य महोदय यह तक नहीं देख रहे हैं कि 'दाढ़ी' का अर्थ ठोड़ी पे उग आने वाले बाल थे जो कि अबू खां के चेहरे पर थी और 'दाडी' अनार का फूल होता है जिसका उस कहानी या अबू खां दोनों से कोई लेना-देना न था। मैंने उन्हें बताया कि कोश में तो दोनों ही शब्द हैं लेकिन उस संदर्भ में तो 'दाढ़ी' ही ठीक था। उसके बाद उन अध्यापिका ने मुझसे और जिरह की कि कोश तो मैंने ही विद्यालय में मंगा के रखा है तो फिर उसमें दिए शब्द को गलत क्यों ठहरा रही हूँ?

मैं आवेश में आ गई और मैंने उन्हें दो टूक कहा, "आप कुतर्क कर रही हैं क्योंकि आप भी समझ रही हैं कि यहां गलती किसकी है।" मुझे ये भी दिख रहा था कि जिन्हें नहीं मानना है, उनसे समझदारी की बात करना कितना व्यर्थ है! मैं भी तब इतनी परिपक्व नहीं थी कि इस विवाद को सलीके से सुलझा पाती। कुछ दिनों बाद अलबत्ता वे अध्यापिका मेरे पास आईं और बोलीं कि अगर मैं सबके सामने न कहकर उन्हें अकेले में वे सारी बातें समझाती तो उन्हें बुरा नहीं लगता। लेकिन मैंने भी अक्ल खरीद खाते में यह बात डाल ली कि उचित रणनीति बनाकर ही ऐसे अवसरों पर मुंह खोलूँ। जिसका ज्ञान

जितना कम होता है, उसका अहंकार उतना ही बड़ा होता है और उसे ठेस भी उतनी ही जल्दी लगती है।

मुझे याद है कि मैंने जब भी 'हंस' और 'हँस' का उदाहरण देकर इनका अंतर समझाना चाहा, अध्यापकों ने विभिन्न समाचार-पत्र व पत्रिकाओं में दोनों प्रकार की अनुनासिकता (स्वर और व्यंजन) के लिए प्रयुक्त अनुस्वार दिखाकर मेरा मुंह बंद करने का प्रयत्न ही किया। मैं दुराग्रही नहीं हूँ और अगर इतने बरसों में कोई भी मुझे एक भी अकाट्य तर्क देता तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार कर लेती। पहले मुद्रण का तर्क दिया जाता था कि उसमें चंद्रबिंदु की व्यवस्था नहीं है, तो अब कंप्यूटर की आड़ ली जाती है जबकि उसमें सबसे अधिक सुविधाएँ हैं। क्या स्वर की अनुनासिकता एवं व्यंजन की अनुनासिकता का भेद सिखाया जाना अब आवश्यक नहीं रहा? यदि इस दुराव-छिपाव के पीछे शिक्षकों के न सीखने का हठ न होता तो बात पच जाती परंतु हिंदी भाषा व लिपि की इतनी सुंदर बात को अपने थोड़े-से आराम के लिए उपेक्षित कर देना मुझे उचित कभी भी नहीं लगा। एक ओर तो हम कहते हैं कि हिंदी ध्वन्यात्मक भाषा है और दूसरी ओर हम बेहद लापरवाही से उसका प्रयोग करते हैं। तब हम बच्चों को सही व शुद्ध भाषा कैसे सिखा सकते हैं? बोली का प्रभाव या स्थानीय प्रभाव कहकर अनेक शिक्षक अपनी अशुद्धियों को पकड़े रहते हैं और हिंदी की अनेकरूपता के नाम पर भ्रांतियाँ बढ़ती जाती हैं।

इन बहसों से मेरे मन में यह प्रश्न भी उठते रहे हैं कि

- क्या हिंदी के मानक रूप की बातें केवल भाषा विज्ञान में पढ़ने के लिए ही हैं?
- क्या केंद्रीय विद्यालय में मानक हिंदी को पोषित करने का दायित्व वहाँ के शिक्षकों का नहीं?
- क्या शिक्षक अपने अहंकार को बचाने के लिए बच्चों के साथ अन्याय करते रहें? क्या मानक हिंदी सीख लेना इतना दुश्वार है? खासतौर से तब, जबकि अधिसंख्य हिंदीभाषी शिक्षक खुलकर अहिंदी भाषी शिक्षकों की उच्चारण संबंधी अशुद्धियों का निर्ममतापूर्वक मजाक उड़ाते रहते हों? और तब जबकि राजभाषा के रूप में हिंदी को सर्वमान्य करने के लिए मानक रूप तैयार किया गया हो।
- और यदि हम हिंदी की बोलियों की विशिष्टताओं को मानक रूप के शिक्षण के दौरान बचा के बच्चों को पढ़ाना ही चाहते हैं तो क्या इस संबंध में तैयारी बहुत ऊपर प्रशासनिक स्तर पर ही नहीं की जानी चाहिए?
- क्या इतनी अनेकरूपताओं के रहते हिंदी उस स्थान को पा सकती है जिसका सपना हिंदी प्रेमी देखते रहते हैं?

कुल मिलाकर मेरा यह कहना है कि हम पाठ्यक्रम में मानक हिंदी रख रहे हैं या नहीं रख रहे हैं, यह पूर्णतः स्पष्ट होना चाहिए। बोलियों को महत्त्व देने के लिए उस प्रकार का पाठ्यक्रम भी होना चाहिए। हम व्यर्थ का घालमेल न करें। साथ ही यह जानना भी अति-आवश्यक है कि जो गलत पढ़ा रहे हैं वे अज्ञानता के कारण ऐसा कर रहे हैं या लापरवाही के कारण? वे जिन बोलियों का हवाला दे रहे हैं, वे सच में उनकी मातृभाषा है या वे केवल खुद को बचाने के लिए उसकी आड़ ले रहे हैं? वस्तुतः भाषा के मुद्दे इतने संवेदनशील होते हैं कि उसका नाजायज फायदा उठाने से भी लोग चूकते नहीं हैं। ऐसे में भाषा शिक्षण के नीति निर्देश अत्यंत स्पष्ट होने चाहिए। आज भले ही कक्षा 10 में भी बोर्ड की परीक्षा ऐच्छिक की जा रही हो लेकिन मेरे कार्यकाल तक, सन् 2004 तक परीक्षाओं में मानक हिंदी लिखना अनिवार्य था। तब श को स पढ़ना या लिखना, क्ष को छ या क्ल पढ़ना एवं व को ब लिख देना अंक कटवाता ही था। ऐसे में अध्यापक भले ही अपनी बोली की दुहाई देकर बच जाने का प्रयत्न कर सकते थे मगर उनके विद्यार्थी ऐसा नहीं कर सकते थे।

हमारे एक और सह-अध्यापक थे, वे न केवल इन गलतियों को सही ठहराते थे, उन्हें ये अहंकार भी था कि हिंदी भाषी लोग ही सही व शुद्ध हिंदी जान व बोल सकते हैं, अहिंदी भाषियों को तो सात जन्म में भी सही हिंदी नहीं आ सकती। उन्होंने कक्षा 6 की छमाही परीक्षा में शब्द युग्मों के अंतर्गत एक युग्म दिया था-- प्रगट और प्रकट। जब सही-गलत में फैसला करना था तो पुनः मुझे बुलाया गया। मैंने कहा कि मुझे तो लगता है कि उसमें तत्सम और तद्भव होने के सिवा अन्य कोई अंतर नहीं है। तब वे अध्यापक दुर्वासा बन गए और बुरी तरह चिल्लाते हुए बोले, “अब आप एक तमिल भाषी से कहेंगे कि वह मेरी हिंदी की गलती निकाले! अरे! ये क्या जानें हिंदी? ईश्वर प्रगट होते हैं और शेष सब प्रकट होते हैं।” मेरे लाख आग्रह पर भी वे मुझे एक भी ऐसी व्याकरण की पुस्तक या शब्दकोश न दिखा सके जिसमें इस प्रकार का कोई अर्थ दिया गया हो। दुख तो इस बात का रहा कि इस संदर्भ में प्राचार्य ने हिंदी भाषी होते हुए भी अपनी अनभिज्ञता के कारण मुझे कटघरे में खड़ा किया।

ऐसी मानसिकता वाले विद्यालय बहुत नहीं थे, यही मेरा सौभाग्य रहा! पर हां, एक बात जो मुझे सदा कचोटती रही वह है कई लोगों द्वारा मुझ पर ‘घुसपैठिया’ होने का आरोप लगाना। एक तरफ तो यह कहा जाता रहा है कि दक्षिण वाले हिंदी नहीं सीखते और मैंने सीखी तो उन्हें इस पर भी आपत्ति है!

मैंने हर नए विद्यालय में कार्यभार सम्हालने पर इस प्रश्न का उत्तर न जाने कितनी बार दिया है कि आपकी हिंदी तो इतनी बढ़िया है मगर आपके साउथ वाले कितना बखेड़ा करते हैं? मैं चाहूंगी कि ऐसे सवाल उठाने वाले सभी लोग मेरी कहानी ‘पहला पत्थर’ अवश्य पढ़ें, उन सबको उस दुविधा एवं तनाव का पता चलेगा जिससे हमारा पूरा परिवार सालों तक गुजरता रहा। तमिल भाषी होना बड़ा अपराध था या ऐसा होते हुए भी हिंदी में एम.ए. करना? जब मैं हिंदी स्नातकोत्तर शिक्षक के पद के लिए साक्षात्कार के लिए गई तब भी विनोदपूर्ण ढंग से ही सही, मगर इस बात की बड़ी पूछताछ की गई कि मैं सचमुच में तमिल हूँ या झूठ बोल रही हूँ! इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए साक्षात्कार मंडली ने मेरे पूरे खानदान की जानकारी मांगी! यानी दादी, दादा, नानी, नाना सबकी! फिर मुझसे तमिल के अक्षर लिखवाए। मुझसे एक लंबा गद्यांश पढ़वाया। काश! आज भी हिंदी शिक्षकों का चयन इतनी ही श्रद्धा से हो रहा होता!

अब चलिए कुछ सकारात्मक बातें करें

नौकरी लगने के 4 ही माह के भीतर मेरी कक्षा में 5 निरीक्षकों का समूह आ गया। मैं कक्षा 12 को दिनकर जी का निबंध ‘कबीर साहब से भेंट’ पढ़ा रही थी। तल्लीनता से मैंने पढ़ाया। कालांश खत्म होने की घंटी बज जाने पर भी उन लोगों ने मुझे पाठ चालू रखने को कहा। जाते-जाते वे मुझे प्राचार्य कक्ष में आने को कह गए। मैं डरते-सहमते वहां गई तो प्रेमपूर्वक बैठने को कहकर पहले तो उन सबने मेरी प्रशंसा की, “तुम्हारा विषय ज्ञान बहुत बढ़िया है, उच्चारण में तमिल का कोई प्रभाव नहीं है, कबीर की समझ से भी हम प्रभावित हैं लेकिन...!” ऐसा बोलकर वे सब हंसने लगे।

मैं प्रश्नवाचक दृष्टि से उन्हें देखने लगी तो उनमें से एक सज्जन बोले, “बस, ‘बोलो सियावर रामचंद्र की जय’ की कमी थी।”

मुझे देख वे भी समझ गए कि मैं कुछ समझ नहीं पाई हूँ। “सुनो आशा! यही नाम है न? कक्षा-शिक्षण भजन-कीर्तन की तरह एकतरफा नहीं होता, इसमें बच्चों की भी भागीदारी होनी चाहिए। उनसे प्रश्न करके बीच-बीच में पता लगाती रहो कि वे समझ रहे हैं कि नहीं? सो तो नहीं गए हैं? और खास बात तो यह है कि तुम्हारी घबराहट, तुम्हारे आत्मविश्वास की कमी उन्हें पता न चले।” असल में पहले मैं चॉक को हाथ में घुमाती रही, तब मुझे टोका गया तो मैंने उसे तो छोड़ दिया परंतु साड़ी का पल्ला लेकर

उसके कोने को मरोड़ने लगी और जब वह भी छुड़वाया गया तो मैंने एक पेंसिल उठा ली थी। तब से आज तक मैं आत्मावलोकन की आदी हूँ। जब मैं किसी को संबोधित कर रही हूँ तो सामने बैठे हुए लोगों को कैसी दीख-पड़ रही हूँ, इस बात का ध्यान रखती हूँ।

इस बात को याद करती हूँ और सोचती हूँ कि आज कक्षा-निरीक्षण सुधारात्मक या रचनात्मक कहाँ रह गया है? आज तो भत्ते बनाना, एक नए शहर में जाकर वहाँ की प्रसिद्ध वस्तुएँ वहाँ के प्राचार्य या शिक्षकों से भेंट स्वरूप ले आना या उन लोगों से कोई निजी बैर निकालना; यही सब लक्ष्य रह गए हैं। कुंजी से पढ़ाती अध्यापिकाएँ, अस्फुट, अशुद्ध उच्चारण करके पढ़ते-पढ़ाते अध्यापक, कॉपी जांचने के नाम पर लाल स्याही का उपयोग केवल अपनी धाक जमाने के लिए इस्तेमाल करते शिक्षक; क्या यह सारे लोग निरीक्षकों को दिखते नहीं? और उससे भी खास बात, ऐसे लोग हिंदी के शिक्षक बनाए ही कैसे गए जिन्हें न तो हिंदी की वर्णमाला आती है, न ही शुद्ध उच्चारण? निरीक्षण की सूचना मिलते ही भाँति-भाँति की शिक्षण-सामग्री बनाते लोग उन ईमानदार शिक्षकों को मात देते हैं जो साल भर पूरी निष्ठा से पढ़ाते हैं लेकिन जो अधिकारियों को खुश करना नहीं जानते या नहीं करना चाहते। पाठ को कक्षा में पढ़ा देने की खानापूर्ति करके प्रश्न-उत्तर करवा देना, कुछ सारहीन परियोजनाएँ करवा देना जिनमें अंक देकर बच्चों को 'पास' कर दिया जाए और स्वयं भी वैतरणी पार कर डालें! फिर गृहकार्य के कुछ अंक, कुछ कृपांक और इन सबसे कुछ रह-बच जाए तो कक्षा 10 तक निर्बाध धकेले जाने के नीति-नियम! बस, यही हाल है हिंदी शिक्षण का।

और हिंदी शिक्षक?

हिंदी शिक्षक के बारे में बच्चों के मन में जो एक रूप समाया हुआ था वह मुझे एक ही साल के भीतर पता चल गया, जब मुझे कई वरिष्ठ लड़कियों को खेलने के लिए बाहर ले जाना पड़ा। उस माहौल में शिक्षक व छात्र के बीच कोई औपचारिक दूरी नहीं रह जाती है और कुछ मैं भी 'वल्नरेबल' ही थी, मेरी और उन लड़कियों के बीच उम्र का भी इतना बड़ा फासला नहीं था। उनसे मुझे पता चला कि हिंदी शिक्षक 'झोला छाप' होते हैं। उन्हें अंग्रेजी बिलकुल नहीं आती। वे अंग्रेजी जानने वाले बच्चों से चिढ़ते हैं। उन्हें गणित, विज्ञान तो क्या सामाजिक अध्ययन के बारे में भी कुछ मालूम नहीं रहता। वे अपनी लिखी कविताएँ हर कहीं सुनाने लगते हैं।

जैसा कि मैंने पहले ही आपको बताया कि एक हिंदी शिक्षक के रूप में मैंने बहुत मान व स्नेह पाया। इस पर मेरे सहकर्मियों का यह कहना है कि मेरी बात और है क्योंकि मेरी इंग्लिश बहुत बढ़िया है। अब यह बड़ा ही विचित्र तर्क है। मैं मानती हूँ कि इस कारण मेरा रुतबा थोड़ा बढ़ गया था, मगर वास्तविकता तो यह थी कि मैं दोनों भाषाओं का व्याकरण तुलनात्मक रूप से पढ़ा पाती थी जिसका लाभ बच्चों को होता था। मैं अपने पाठों को पूरी तन्मयता से तैयार करती थी, उन्हें रोचक और सुग्राह्य बनाती थी।

मुझे एक अनूदित रचना 'रसायन और विज्ञान' पढ़ानी थी। मैंने घर में उसे पढ़ते समय ही जान लिया था कि उसमें कही गई अनेक बातें मुझे नहीं पता। अतः मैंने अपने प्राचार्य से समय मांगा जोकि रसायन शास्त्र में पी.एच.डी. थे और वे सारी बातें उनसे समझीं, तभी वह पाठ मैंने कक्षा में आरंभ करने का साहस किया। यही नहीं, विद्यार्थियों से यह भी कह दिया कि कभी भी विज्ञान की छात्रा न रही होने के कारण मेरे लिए सारी बातें आत्मसात् करना संभव नहीं है और वे सभी विज्ञान के ही छात्र थे, अतः मुझसे बेहतर तरीके से वे उन बातों को समझ सकते थे। इसके अनेक लाभ हुए :

- मैं उन तक यह बात पहुंचाने में सफल रही कि कला और विज्ञान संकाय के विषय भिन्न हैं, अतः एक के विद्यार्थी को दूसरे के बारे में बहुत गहरा ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

- वे स्वयं आगे बढ़कर मुझे रसायनों के बारे में आवश्यक बातें बताने लगे और काफी सारी चर्चाएं अनायास ही हो गईं।
- उन लोगों ने मुझे ऐसी अनेक पत्रिकाओं के बारे में बताया जिन्हें पढ़कर मैं विज्ञान संबंधी अपना ज्ञान बढ़ा सकती थी।
- मैंने अपनी एक कमी मान ली तो वे स्वयं को मेरे अधिक निकट मानने लगे क्योंकि अब मैं उन्हें अधिक 'एप्रोचेबल' लगने लगी थी।

वर्णमाला न आना

मैंने अपने कार्यकाल में एक बार अस्थाई शिक्षकों के लिए आयोजित साक्षात्कार में लगभग सभी शिक्षकों से हिंदी की वर्णमाला पूछी और विश्वास कीजिए एक ने भी 4 या 5 वर्णों से अधिक ठीक नहीं बताए। मुझसे मेरे साथ बैठे अन्य विषय के विशेषज्ञों ने पूछा भी कि आप इस पर इतना जोर क्यों दे रही हैं? क्या वर्णमाला आना ही हिंदी आने का प्रमाण है? एक ने कहा कि हिंदी की वर्णमाला है भी तो कितनी बड़ी!

मेरा प्रतिप्रश्न है कि

- हिंदी का प्रयोग सालों से कर रहे हिंदी शिक्षक को ही यदि वर्णमाला याद नहीं है तो वे विद्यार्थियों से इसकी अपेक्षा कैसे कर सकते हैं?
- फिर वे शब्दकोश में से अर्थ खोजना किस तरह सिखाएंगे?
- तीसरी कक्षा से आरंभ करके नौवीं कक्षा तक वर्ण-विचार जो सिखाना पड़ता है, सो कैसे सिखाएंगे?
- हिंदी इतनी वैज्ञानिक भाषा है कि उसकी वर्णमाला सरलता से याद की जा सकती है। स्वर एवं व्यंजन दोनों ही कंठ से ओंठ तक के क्रम में, मुख के अवयवों के अनुसार चलते हैं, जैसे- कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दंत्य और ओष्ठ्य।
- इसके बाद अंतस्थ, उष्म, संघर्षी। इसी को मैंने बच्चों को यूँ बताया कि - क च ट त प के क्रम में किसी भी एक लय में याद कर लें।

मैंने हर वर्ष जब-जब अवसर मिला, कक्षा 6 से 10 तक के सभी विद्यार्थियों को मुख यंत्र का चित्र बनाकर उन्हें उच्चारण स्थान व प्रयत्न समझाया। यह प्रयोग हर बार सफल रहा। इसने बच्चों को ऐसा बांधा कि मैं चाहे उस कक्षा में फिर कभी नहीं गई पर उन बच्चों से बंधी रही। बारहखड़ी के बारे में भी मुझे शिकायत ही रही है। क्या कारण है कि हमारे शिक्षक-शिक्षिकाओं को ठीक से बारहखड़ी बोलने और बुलवाने में हिचक होती है? बारहखड़ी न सिखाने का ही यह परिणाम है कि हिंदी के स्नातकोत्तर विद्यार्थी भी मात्रा-ज्ञान न होते हुए हिंदी शिक्षक बन जाते हैं और सैकड़ों बच्चों के ज्ञान का कचरा करते हैं।

क्या हमारा देश ही ऐसा है जहां तुष्टिकरण के नाम पर गुणवत्ता के साथ समझौता किया जाता है? हम भावी पीढ़ियों के साथ यह कैसा मजाक कर रहे हैं? अंग्रेजी के व्यापक प्रचार-प्रसार पर शोर मचाने वाले लोग यह तो देखें कि इस भाषा को सरल बनाने के लिए कितनी तरह की असंख्य पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं? नेशनल बुक ट्रस्ट और बाल पुस्तक निगम की हिंदी की ढेरों पुस्तकें उपलब्ध हैं लेकिन जब प्राचार्य हिंदी शिक्षकों से पुस्तकों की सूची मांगते हैं तो क्या होता है, जरा उन्हीं से पूछकर देखिए! या तो कभी स्वयं ने वे पुस्तकें देखी ही नहीं होती हैं या कोई जानकारी ही नहीं होती है। पूछिए कि कितने हिंदी शिक्षक विविधतापूर्ण पुस्तकें पढ़ते हैं? अपने विद्यार्थियों को कितनी पुस्तकें पढ़ने की राय देते हैं? हिंदी की अन्य पाठ्यपुस्तकें पढ़ते हैं? जिस कल्पनाशीलता, रचनात्मकता और मौलिकता की अपेक्षा बच्चों से की जाती है, वह कितने शिक्षकों में पाई जाती है?

में कभी नहीं भूलती कि मैं उप-प्राचार्य के रूप में जब एक स्नातकोत्तर अध्यापिका की कक्षा का अवलोकन करने गई तो मैंने कक्षा में प्रवेश करते ही तीन बातें देखीं :

1. अध्यापिका ने कुंजी खोलकर रखी हुई थी।
2. उनकी दृष्टि कक्षा से बाहर की ओर थी।
3. उनकी बोली में तुतलाहट थी।

इनमें से पहली दो बातों का उल्लेख मैंने अपने निरीक्षण रिपोर्ट में किया। कुछ ही देर में प्राचार्य की ओर से मुझे बुलावा आ गया। वहां वे अध्यापिका रोती हुई बैठी थीं। प्राचार्य मुझसे बोले, “आपने बेवजह ही इन्हें रुला दिया। आपको पता है न कि पाठ्यपुस्तक अभी बाजार में उपलब्ध नहीं है?” “लेकिन सर...!” “प्लीज, मैडम, आप पी.जी.टी.जी की क्लासेज न देखा करें। मैं देख लूंगा।”

इसके आगे मैंने जो कुछ अनकहा छोड़ा है, उसे प्रबुद्ध पाठक स्वयं समझ सकते हैं, पर इस घटना का वर्णन करते-करते एक और पुरानी बात याद आ गई। 1994 या 95 की ही बात है। मैं 10वीं कक्षा में कुछ आदर्श उत्तर लिखवा रही थी। इनका एक उद्देश्य इस बहाने देशप्रेम जागृत करना भी था। यह पाठ कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ का ललित निबंध था ‘मैं और मेरा देश’। यह निबंध मुझे भीतर तक छू गया था और उदाहरणों की मेरे पास कोई कमी नहीं थी। मैं बच्चों के बीच टहलती हुई बोलती जा रही थी। मेरा ध्यान बंटता पीछे की ओर बैठे 3-4 लड़कों के फुसफुसाने से। “क्या हुआ?”, पूछने पर कुछ देर आना-कानी करने के बाद वे कहने लगे कि आप डांटेंगी तो नहीं? मेरे अभयदान देने पर वे पूछने लगे, “आप ये सारे उत्तर कौन-सी कुंजी से लिखवा रही हैं? हमने सबमें देख लिया, ये किसी भी कुंजी से मिल नहीं रहे।”

“चलो, तुम सब इतने ईमानदार हो तो मैं भी सच बोल ही दूं!” मैंने अपने सिर पर तर्जनी मारते हुए कहा, “इनमें से!” इसके बाद न सिर्फ़ ये कि उन लोगों ने कुंजी से तौबा कर ली बल्कि श्रद्धापूर्वक खुद पढ़कर किस प्रकार उत्तर लिखते हैं, यह सीखा। और मेरी इन बातों में थोड़ी-सी भी गप्प नहीं है, फेसबुक में मेरे अनेकों विद्यार्थी मिल जाएंगे जो मेरी गवाही देंगे।

पिछले सत्र में मुझे दो विद्यालयों के हिंदी शिक्षकों को प्रशिक्षित करने का अवसर मिला। इस दौरान तीन प्रमुख बातें मेरे ध्यान में आईं- (i) हिंदी शिक्षण का काम किसी को भी सौंप दिया जाता है। इसके लिए विशेष प्रवीण लोगों की आवश्यकता नहीं समझी जाती। (ii) हिंदी शिक्षण के लिए आधुनिक तकनीकों के प्रयोग की विशेष आवश्यकता नहीं समझी जाती। (iii) अधिकांश निजी स्कूलों के प्रशासक ये मानते हैं कि कोई भी थोड़े से प्रशिक्षण के द्वारा हिंदी पढ़ाने में सक्षम हो सकता है। फिर भी मेरा आक्रोश व्यवस्था के प्रति ही है कि वह न तो शिक्षकों की नियुक्ति के पहले उन्हें समुचित तरीके से जांचती है, न ही कक्षाओं में पढ़वाने के पहले उनका समुचित प्रशिक्षण करवाती है।

इन सबके अलावा कुछ और छोटी-छोटी बातें होती रहती थीं जिनकी टीस उठती रहती थी, जैसे कि -

- समय सारिणी में हिंदी के लिए अंत के 3 या 4 कालांशों में जगह देना। तर्क ये कि हिंदी तो किसी भी कालखंड में पढ़ाई जा सकती है, गणित, विज्ञान आदि के लिए बच्चों का दिमाग ‘फ्रेश’ होना चाहिए।
- हिंदी के शिक्षकों पर तमाम तरह के अतिरिक्त कामों का बोझ यह कहते हुए डालना कि उनके पास भारी विषय का बोझ थोड़े ही है।

- उन्हें समय सारिणी या इसी प्रकार का कोई बौद्धिक काम यह कहते हुए न देना कि इतनी बुद्धि हिंदी शिक्षकों में कहां!
- लेकिन विज्ञान, सामाजिक अध्ययन से लेकर किसी भी प्रकार के विषय पर आयोजित भाषण, वाद-विवाद या निबंध प्रतियोगिता के लिए अविलंब हिंदी शिक्षक को पकड़ना जैसे कि उन्हें सारे विषयों का अकूत ज्ञान होना ही चाहिए।
- इसी प्रकार जब कोई अध्यापक अनुपस्थित हो तो उसकी जगह जब अन्य कोई अध्यापक न मिले तो तुरंत हिंदी अध्यापक को वहां भेज दिया जाता है।

यह सारी बातें पढ़कर कोई यह न सोचे कि मैं काम का रोना रो रही हूं! नहीं, बिलकुल नहीं! मैं तो यह बताना चाहती हूं कि हिंदी शिक्षकों के साथ दोगले दरजे का व्यवहार लगभग सभी विद्यालयों में होता है। अंग्रेजी न आना उनके अपराधों की कोटि में आता है। अक्सर विद्यार्थी भी यही सोचते हैं कि इनके सामने इंग्लिश बोलो, कौन-सा उन्हें समझ में आने वाला है। दूसरी ओर अधिसंख्य हिंदी शिक्षक ऐसे हैं जो इंग्लिश के अध्यापकों एवं फरटि से इंग्लिश बोलने वाले विद्यार्थियों से ऐसे चिढ़ते हैं कि जैसे उनसे जन्मजात बैर हो। वे कक्षा में पढ़ाते समय भी अपने इन विचारों को हवा देते रहते हैं। इससे वे लगभग सारे बच्चों का अपनत्व खो बैठते हैं क्योंकि उन बच्चों के लिए तो इंग्लिश में पढ़ना नियति है। अब बार-बार नफरत की बातें करके न हम उनकी कोई सहायता कर रहे हैं, न ही उनका बोझ हल्का कर रहे हैं।

तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि एक हिंदी शिक्षक अपनी ही नजरों में कहां ठहरता है? आज ही नहीं कब से मैं उन्हें अपने पर दया करते देख रही हूं। मुझे न तो कभी अपनी कक्षाओं में बच्चों की संख्या में कोई कमी दिखी, न ही मुझे हिंदी पढ़ाते समय अनुशासनहीनता की कोई शिकायत रही। मैंने हिंदी शिक्षण को कभी उबाऊ नहीं समझा और न कभी जांचने या बार-बार किसी पाठ को पढ़ाने में आलस किया! अगर मैंने छुट्टियां लीं तो तुरंत अगले सप्ताह उसकी पूर्ति करने के लिए अतिरिक्त कक्षा भी ली। हालांकि हिंदी के नाम पर 'एक्स्ट्रा क्लास' लेने की बात पर मेरी खूब जगहंसाई हुई है। मैंने हिंदी को सर आंखों पर रखा तो मेरे विद्यार्थियों ने भी ऐसा ही किया। मुझे हिंदी की परियोजनाएं करवाने के लिए दीवारों से सर नहीं फोड़ना पड़ा, कभी भी नहीं क्योंकि मैंने सदा उन्हें रोचक बनाए रखने का प्रयास किया। मेरे गृहकार्य में भी नवीनता और लचीलापन रहता था। निबंधों के लिए विषय चुनते समय मैं हमेशा उनमें से हरेक की रुचि, भाषायी स्तर व विविधता का ध्यान रखती थी और हां! हरेक का निबंध जांचती भी थी। परियोजनाओं को भी उपयोगी, रुचिकर एवं विद्यार्थियों की पहुंच के भीतर रखने का ही प्रयत्न करती।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी पढ़ना अगर बच्चों को नहीं भा रहा है तो कहीं इसमें हमारी तो कोई कमी नहीं रह गई है, क्या यह देखना हमारा कर्तव्य नहीं? हिंदी की समृद्धि और उसके विकास एवं प्रचार-प्रसार के लिए कुछ प्रभावपूर्ण कदम उठाना हमारा काम नहीं? कक्षा-शिक्षण को आनंददायी और रोचक बनाना हमारा धर्म नहीं? उसे बच्चों के दैनिक जीवन के साथ जोड़ने के उपाय सोचना क्या हमारी नौकरी के दायरे में नहीं आता? हिंदी की दयनीय स्थिति के लिए कहीं हम भी तो उत्तरदायी नहीं? क्या हमें हिंदी शिक्षण में नवाचार करने से कोई रोक रहा है? ♦